आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

प्र का श न वि भा ग

आचार्य
...साद द्विवेदी

प्रकाशन विभाग

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशन विभाग

सूचना और प्रसारण मन्त्रालय

भारत सरकार

भाद्र 1891
अगस्त 1969

मूल्य : 60 पैसे

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली—1 द्वारा प्रकाशित तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय मुद्रणालय, कुरुक्षेत्र द्वारा मुद्रित।

भूमिका

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के उन कर्णधारों में से थे जिन्होंने आधुनिक हिन्दी का परिष्कार भी किया और उसे सजाया और संवारा भी। उन्होंने स्वयं अधिक साहित्य की रचना नहीं की लेकिन साहित्य रचना के लिए ठोस आधार बना दिया। किसी भी साहित्य में किसी विरले ही व्यक्ति को इस प्रकार का गौरव मिलता है कि वह भाषा के परिमार्जन और सम्पादन मात्र के बल पर, उस साहित्य में न केवल स्थायी जगह पा ले बल्कि युगनिर्माता का आसन भी ग्रहण कर ले।

द्विवेदी जी बहुत सीधे-साधे व्यक्ति थे। उन्होंने इक्कीस वर्ष तक रेल विभाग में नौकरी की थी इसलिए नियम और बाकायदगी की छाप उनके हर काम में पाई जाती थी। हिन्दी भाषा का रूप सुधारने में भी उन्होंने अपनी इसी आदत के अनुसार काम किया था। सौभाग्य से उनके जीवन की अन्तरंग झांकी हमें उनके एक पत्र से मिलती है जो उन्होंने 'विशाल भारत' के भूतपूर्व सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी जी को लिखा था। चतुर्वेदी जी से एक हिन्दी लेखक तथा लोकोक्ति कोश के संग्रहकर्ता ने बात-बात में कहीं यह कह दिया कि द्विवेदी जी तो लखपति आदमी हैं। वही बात उन्होंने आचार्य द्विवेदी को लिख भेजी जो उनके हृदय में तीर की तरह जा चुभी। उसके उत्तर में आचार्य द्विवेदी ने चतुर्वेदी जी को जो पत्र लिखा था उसके अंश हम यहां पाठकों की सुविधा के लिए दे रहे हैं :

"सत्रह वर्ष की उम्र में मैंने रेलवे में मुलाज़िमत शुरू की। सिर्फ 15 रु० मासिक पर। इक्कीस वर्ष बाद जब छोड़ी तब सिर्फ 150 रु०+परसनल एलाउन्स 50 रु०=200 रु० मिलते थे। अठारह वर्ष तक 'सरस्वती' का काम किया। छोड़ने के वक्त सिर्फ़ 150 रु० मिलते थे। तब से सिर्फ 50 रु० मासिक पेंशन। कभी एक पैसा भी किसी से हराम का नहीं लिया। मेरा रहन-सहन, घर-द्वार सब आपका देखा हुआ है। कानपुर का कुटीर भी आप देख चुके हैं। इस तरह रह कर जो कुछ बचाया, वह सब प्रायः खैरात कर दिया। यथा—कई लड़कों को अपने खर्च से पढ़ा दिया। उनमें से कुछ

एम० ए०, बी०ए० भी हैं। रिश्ते में अपनी तीन भानजियों की शादियां और गौने किये। गैरों की भी दो लड़कियां ब्याहीं। गांव में कई गरीब घरों की लड़कियों की शादियों में मदद दी। कई विधवाओं का पालन किया। दो-एक अब भी वृत्तियां पाती हैं। पिता की इच्छाएं पूर्ण कीं— श्राद्ध, गया, ब्राह्मण-भोजन, दान-पुण्य, मकान और कूप आदि निर्माण के रूप में।

"गत वर्ष मेरे कुटुम्ब की अन्तिम स्त्री मरी। तब मैंने अन्त्येष्टि कर्म करने के सिवा 1000 रु० दीन-दुखियों को बांट दिया। कानपुर का पुस्तक-संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा को पहले ही दे चुका हूं। एक गाड़ी पुस्तकें छः महीने हुए यहां से उसे और भेजीं। दो गाड़ियां अभी और भेजनी हैं। 1000 रु० इस सभा को जो अभी-अभी दिए हैं, सो आप जानते ही हैं। अब भी लोकोक्तिकार के अनुमित लाख, डेढ़ लाख या करोड़, दो करोड़ जो बच रहे हैं, वे प्रायः सब के सब हिन्दू विश्वविद्यालय को देने वाला हूं। पत्र-व्यवहार कर रहा हूं। जनवरी, फरवरी में आप और वे महाशय भी सुन लेंगे कि कितने लाख हैं। यह सब मैंने लिख तो दिया, पर डर है कि मेरे मरने पर कहीं आप ये बातें छपवाने न दौड़ पड़ें। मैं इसकी जरूरत नहीं समझता। लाख, दो लाख का स्वप्न देखने वालों का स्वप्न मैं भंग नहीं करना चाहता—लोकोक्ति कोश वाले सज्जन को यह चिट्ठी दिखाइए और उनसे कहिए कि मैं उनसे मुर्शिदाबाद वाले नवाबी जगतसेठों से तथा कारनेगी और राकफेलर से भी अधिक अमीर हूं। अमीर किसे कहते हैं, यह शायद वह नहीं जानते। शंकराचार्य जानते थे। उनका कहना है कि जो जितना ही अधिक संतोषशील है वह उतना ही अधिक अमीर है, और जो जितना ही तृष्णालु है वह उतना ही दरिद्र। मैं तो दुनिया भर के अमीरों को—लक्षाधीशों को ही नहीं, कोट्याधीशों को भी—अपने सामने तृणवत समझता हूं क्योंकि—निस्पृहस्य तृणं जगत्। इसे वे अपने कोश के दूसरे संस्करण में रख सकते हैं। ये लोग दूसरे के मालमते की नाप-तोल अपने मानदण्ड से तो करते हैं, पर यह कभी नहीं सोचते कि उनसे पूछें—किसी चीज की उन्हें कमी तो नहीं, और हो तो उसे दूर करने की कोशिश करें।"

आचार्य द्विवेदी नितान्त बेलाग व्यक्ति थे। उनके अपनी कोई संतान न थी और उन्होंने तन-मन-धन से हिन्दी सेवा का कार्य अपनाया था। किसी

प्रकार की रू-रियायत करना उन्होंने सीखा न था। प्राप्त सामग्री का संशोधन, सम्पादन वह पूरी ईमानदारी के साथ खरेपन की कसौटी पर ही करते थे। अपने इस क्रम में वह किसी का लिहाज़ नहीं बरतते थे और इसी कारण कुछ लोग उनसे रुष्ट भी रहते थे किन्तु इसकी उन्होंने कभी कोई परवाह नहीं की। इसलिए वह अपने क्षेत्र में उचित और उच्च मानदण्ड की स्थापना कर सके।

एक बार एक कवि ने उनको लिखा कि अमुक पत्रिका वोटों द्वारा कवि, महाकवि आदि का निर्णय कराना चाहती है। इसके उत्तर में आचार्य द्विवेदी ने लिखा :

"वोट गिनकर कवियों, सुकवियों और कविश्रेष्ठों का निश्चय करना तो खूब ही रहा। 20-20 उल्लू बैठ कर कोकिल के लिए वोट दें कि उसके आलाप से सिर में दर्द पैदा हो जाता है, तो कैसी रहे। राय विशेषज्ञों और संतों की मानी जाती है कि सभी की ?

"क्यों व्यर्थ ही हैरान होते हो। सबको महाकवि बन जाने दो। जैसा जमाना आजकल का है वैसा ही एक बार भल्लट कवि के समय में भी था। जानते हो, उस समय उसने क्या कहा था :

"जबान सबके मुंह में है—गूंगा कोई है नहीं। धर्मशास्त्र या कानून में रोक भी कोई नहीं। इधर राजा को इन बातों से सरोकार ही नहीं। उसकी समझ में यह सारा गोरखधन्धा आता ही नहीं। इससे जितने लोग शब्दों की कात-कूत करने वाले हैं, वे अपने गले में ढोल या डफली लटकाकर द्वार-द्वार पर पीटते और कहते फिरें—हम कवि, हम कवि, हम महाकवि, हम कविश्रेष्ठ, हम कविश्रेष्ठ। रहे हम, सो हम तो आज से मौन धारण किए लेते हैं।"

इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कितने गम्भीर, बेलाग और निर्भीक थे।

आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताओं के आधार पर तैयार की गई यह पुस्तिका उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की एक झलक देगी। इस पुस्तिका का एक लेख 'पथप्रदर्शक आचार्य' हमारे मासिक पत्र 'आजकल' से लिया गया है।

—सम्पादक

विषय सूची

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

सुमित्रानन्दन पंत

'सरस्वती' पत्रिका का और मेरा जन्म प्रायः साथ ही साथ हुआ है। मैं सन् 1900 में पैदा हुआ और सम्भवतः सन् 1901 से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण किया। जब से मुझे याद है, 'सरस्वती' पत्रिका के साथ-साथ आचार्य द्विवेदी जी की महत्ता का प्रभाव मेरे मन में पड़ता रहा है। इस प्रकार एक अर्थ में मेरी युवावस्था तक सरस्वती के साथ खड़ी बोली के गद्य का विकास और मेरे जीवन का विकास समानान्तर रूप से साथ ही होता आया है। वैसे तो मैं तुकबन्दी, अपने बड़े भाई के प्रभाव में आकर, टूटी-फूटी भाषा में 1911 में करने लगा था। पर सन् 1915-16 में जब अलमोड़े के युवकों में हिन्दी के प्रति अनुराग की बाढ़ आई और हमारे ही घर से श्री श्यामाचरण दत्त पंत तथा इलाचन्द्र जोशी जी के सम्पादन तथा देखरेख में 'सुधाकर' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकलने लगी तब मेरे साहित्यप्रेम और विशेषतः काव्यप्रेम में एक नवीन गति तथा प्रवाह आया। इन्हीं दिनों की एक घटना है कि हमारे घर के ऊपर अलमोड़े में एक गिरजाघर था जहां से रविवार को अत्यन्त शांत मधुर स्वरों में प्रातःकाल के समय घंटे की ध्वनि पहाड़ की घाटी में गूंज उठती थी। उसी के मोहक स्वर से आकर्षित होकर मैंने तब 'गिरजे का घंटा' शीर्षक एक छोटी-सी कविता लिखी थी, मैं सम्भवतः तब आठवीं कक्षा में था। वह कविता मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैंने उसे नीले रंग के रूलदार लैटर पेपर में उतारकर चिरगांव श्री गुप्त जी के पास भेज दिया। गुप्त जी की ख्याति तब 'सरस्वती' के माध्यम से एवं उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत भारती' तथा 'जयद्रथ वध' आदि से देश भर में फैल चुकी थी। मेरी रचना के हाशिए में श्री गुप्त जी ने अपने सहज सौजन्य के कारण प्रशंसा के दो शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया। गुप्त जी के आशीर्वाद से प्रोत्साहित होकर मैंने अपनी वह रचना सरस्वती में प्रकाशनार्थ आचार्य द्विवेदी जी के पास भेज दी। एक ही सप्ताह के भीतर

द्विवेदी जी ने गुप्त जी के हस्ताक्षरों के नीचे बारीक अक्षरों में 'अस्वीकृत— म० प्र० द्वि०' लिखकर वह कविता लौटा दी। आचार्य द्विवेदी जी के लौह व्यक्तित्व की यह पहली अमूर्त छाप थी जो मेरे किशोर मानस पर पड़ी थी। अब सोचता हूं, वह मेरा ही वाक-चापल्य या अबोध दुःसाहस था जो मैंने अपने अज्ञान की सीमाओं से अपरिचित होने के कारण बड़ों की श्रेणी में अपना नाम लिखाना चाहा था। 'सरस्वती' निःसंदेह तब हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ और उच्च कोटि की मासिक पत्रिका थी और गुप्त जी का सहज सुलभ प्रशंसापत्र प्राप्त कर लेने पर भी मेरी रचना तब निःसंदेह अत्यन्त अपरिपक्व रही होगी। उसका तब का रूप तो मुझे याद नहीं पर पीछे उसे भावना के आधार पर उससे मिलती-जुलती जो 'घंटा' शीर्षक कविता मैंने लिखी थी उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

नभ की उस नीली चुप्पी पर घंटा है एक टंगा सुन्दर
कानों के भीतर लुक छिप कर घोंसला बनाते जिसके स्वर
..इत्यादि

'सरस्वती' में मेरी सर्वप्रथम रचना सन् 16 के बदले सन् 19 में प्रकाशित हुई थी। तब मैं म्योर कालेज में पढ़ता था, कविता का शीर्षक 'स्वप्न' था जो अब 'पल्लव' के अन्तर्गत संगृहीत है। आचार्य द्विवेदी जी तब 'सरस्वती' के सम्पादन से अवकाश ग्रहण कर चुके थे और श्री देवीप्रसाद शुक्ल जी, जो हिन्दू होस्टल के वार्डन भी थे उन दिनों 'सरस्वती' का भार संभाले हुए थे।

दूसरी बार द्विवेदी जी के गंभीर व्यक्तित्व का धक्का—उसे धक्का ही कहना चहिए—मुझे सन् 1926 के आस-पास लगा, जब सुकवि किंकर के नाम से छायावाद के विरोध में उनका एक व्यंग्यपूर्ण लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने छायावादी छंदों की ही छीछालेदर नहीं उड़ाई थी, छायावादी कवियों तथा छायावादी कविता पर भी खासा परिहासपूर्ण कटाक्ष किया था। उन दिनों अन्य पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी वयोवृद्ध पीढ़ी की ओर से छायावादी कविता के प्रति इस प्रकार का असंतोष यत्र-तत्र प्रकट होता रहता था। अपनी युवकोचित असहिष्णुता के कारण मैंने द्विवेदी जी के उस लेख का उत्तर 1921 में प्रकाशित अपनी 'वीणा' की भूमिका में दिया था। 'वीणा' की कुछ

ही प्रतियां बाहर गई होंगी कि एक दिन इंडियन प्रेस के व्यवस्थापक श्री पटल बाबू ने जो मेरे प्रकाशक भी थे –मुझे आफिस में बुला कर द्विवेदी जी का एक लम्बा-चौड़ा पत्र मेरे हाथ में रख दिया। पत्र में द्विवेदी जी ने 'वीणा' की भूमिका के प्रति आक्रोश उगल रखा था और अन्त में बड़े ही करुण शब्दों में लिखा था कि यदि उनकी अपकीर्ति का प्रचार करने से भी इंडियन प्रेस का उपकार और श्रीवृद्धि होती हो तो उन्हें वह भी स्वीकार है। पटल बाबू सौजन्य की मूर्ति थे। उन्होंने मुझे समझाया कि इंडियन प्रेस पर द्विवेदी जी का बड़ा अहसान है। वह उनके पिता के मित्र हैं। इसलिए उनकी मर्यादा के विरुद्ध कोई भी कामं वह नहीं करना चाहेंगे। मैं तब युवा हो चुका था, मैंने उसके विरोध में पटल बाबू से कहा कि द्विवेदी जी क्यों नहीं अपने लेखों द्वारा मेरी भूमिका का पत्र-पत्रिकाओं में विरोध करते ? इस तरह आपको याचनापूर्ण पत्र लिख कर मेरी पुस्तक के प्रकाशन को रोक कर क्या वह मुझ पर अन्याय नहीं कर रहे हैं ? पटल बाबू ने मेरी बात का समर्थन करते हुए अंत में मुझ से यह स्वीकार करा लिया कि अपने वयोवृद्धों के प्रति हमारे मन में सम्मान की भावना होनी चाहिए और 'वीणा' की भूमिका का आपत्तिजनक आक्षेपपूर्ण अंश पुस्तक से निकाल दिया गया। सच्ची बात यह थी कि युवकोचित आवेश मन में होने पर भी द्विवेदी जी की विद्वत्ता एवं महत्ता के प्रति मेरे भीतर प्रगाढ़ श्रद्धा थी और उनका पत्र पढ़कर मेरे मन के एक कोने में बड़ी ग्लानि का अनुभव हुआ कि मैंने एक अत्यन्त सम्माननीय वयोवृद्ध व्यक्ति के हृदय को आघात पहुंचाया। द्विवेदी जी का पत्र दो फुलस्केप पृष्ठों का था, उसमें 'छायावाद' की भर्त्सना के अतिरिक्त युवक व्यवस्थापक के लिए उपदेश भी थे और कुछ याचना तथा आक्रोश के मिश्रित स्वर तथा मनोभाव थे। 'वीणा' की भूमिका न छप सकने तथा आचार्य द्विवेदी के चित्त को क्षोभ पहुंचाने का दुःख मेरे भीतर बहुत दिनों तक बना रहा। उस उम्र में किसी बात को जल्दी ही भुला देना या उससे ऊपर उठ जाना सरल नहीं होता। इसी के पूर्व 'पल्लव' के सम्बन्ध में निराला जी की कटु आलोचनात्मक लेखमाला भी निकल चुकी थी। और भी पारिवारिक कुछ ऐसे कारण थे कि मैं बीमार पड़ गया और प्राय: एक साल तक अस्वस्थ रहा। पर इस अस्वस्थता के काल में मेरे मन की बहुत-सी गांठें खुल गईं। मेरे विचारों तथा भावनाओं में

अपने आप ही एक बड़ा आशाप्रद परिवर्तन आने लगा। और मेरे मन में जैसे जैसे सौन्दर्य आलोक और आत्मविश्वास का एक नया क्षितिज खुल गया। आचार्य द्विवेदी जी भी इस बीच मेरे प्रति अनूकूल हो गए और उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के उत्सव में मेरे प्रति आशीर्वाद तथा प्रशंसासूचक कुछ शब्द कह कर मुझे प्रथम द्विवेदी स्वर्णपदक प्रदान किया, जो मेरी बीमारी की अवस्था में मेरे पास भेज दिया गया था। इससे मेरे मन को बड़ी सांत्वना मिली और सन् 1931-32 के करीब मैंने द्विवेदी जी के प्रति दो रचनाएं लिखकर उनके व्यक्तित्व को अपनी श्रद्धा का अर्घ्य अर्पित किया। उसमें से एक रचना कुंवर सुरेश सिंह जी द्वारा सम्पादित 'कुमार' पत्र में निकली और दूसरी द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ में। उन दिनों मैं कालाकांकर में था। आचार्य द्विवेदी जी ने कई बार कुंवर साहब को लिख कर मुझ से मिलने की इच्छा प्रकट की थी, पर अनेक कारणों से मैं तब दौलतपुर नहीं जा सका। और वह शुभमुहूर्त प्रयाग में आयोजित द्विवेदी मेले के अवसर पर आया जब मैं प्रथम बार आचार्य द्विवेदी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर सका। वयोवृद्ध आचार्य जी की स्नेहपूर्ण दृष्टि ने मेरे हृदय का स्पर्श किया और मैं उसके मूक वात्सल्य का उपभोग कर सका। कुंवर सुरेश सिंह भी उस अवसर पर मेरे साथ कालाकांकर से प्रयाग आए थे। उन दिनों मैंने बाल कटवा दिए थे और मैं खाकी कमीज़ और जांघिया पहना करता था। द्विवेदी जी ने मेरे बहुरूपियापन पर मधुर कटाक्ष किया और इसी सिलसिले में मेरी 'बरसो ज्योतिर्मय जीवन' शीर्षक रचना को लक्ष्य कर कहा—"हां, यह तो बतलाओ, यह ज्योतिर्मय जीवन क्या है ?" मैंने संकोचवश तब उन्हें इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मैं तब किसी को कैसे समझाता कि जिस अज्ञात ज्योति ने मेरे हृदय का स्पर्श किया है, यह उसी के अमरत्व का सूचक है। मेरे मौन रहने पर उन्होंने पूछा—"रामायण पढ़ते हो कि नहीं ?"—मेरे यह बताने पर कि मैं अयोध्या कांड से आगे कभी नहीं पढ़ सका हूं, उन्होंने एक अभिभावक की तरह आदेश के स्वरों में कहा—'कम से कम पांच बार पढ़ डालो।' "मैंने उनकी आज्ञा पालन करने का उन्हें आश्वासन दिया और संभवतः तब से कुल मिलाकर 4-5 बार सम्पूर्ण रामायण पढ़ चुका हूं। उस के बाद बहुत इच्छा रहने पर भी मैं फिर द्विवेदी जी के दर्शन नहीं कर सका। हिन्दी के कर्णधारों के रूप में उनके

व्यक्तित्व, विद्वता, निष्ठा तथा सौजन्य के प्रति मेरे हृदय में सदैव ही अखंड सम्मान रहा है। श्रद्धांजलि स्वरूप अपनी रचना की कुछ पंक्तियों को दुहरा कर मैं पुनः-पुनः उनकी महानता के प्रति प्रणति निवेदन करता हूं—

आर्य, आपके मनःस्वप्न को ले पलकों पर
भावी चिर साकार कर सके रूप रंग भर,
दिशि दिशि की अनुभूति, ज्ञान विज्ञान निरन्तर
उसे उठावें युग युग के सुख दुःख अनश्वर,
आप यही आशीर्वाद दें, देव ! यही वर।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व

लल्लीप्रसाद पाण्डेय

'सरस्वती' अपनी सजधज और सुन्दर सामग्री के लिए हिन्दी संसार में आदर पा रही थी। मैं अपने स्थान मध्यप्रदेश के सागर नगर में सन् 1907 से पहले ही 'सरस्वती' पत्रिका का पाठक था। उसके स्वनामधन्य सम्पादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की ख्याति से भी परिचित हो गया था कि मुझे पुराने मध्यप्रदेश की राजधानी नागपुर नगर में रहने का अवसर मिल गया। बाद में आचार्य द्विवेदी जी से प्रत्यक्ष सम्पर्क भी हुआ और उनके साथ काम करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। द्विवेदी जी ने स्वयं अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

राय बरेली के अन्तर्गत सुरसरितट दौलतपुर ग्राम,
जिसमें श्री हनुमन्त तनय थे रामसहाय द्विवेदी नाम।

तिनके एकमात्र सुत मैंने वह 'कुमारसम्भव का सार'
अब के कवियों को प्रणाम कर लिखा किसी विधि-रुचि अनुसार।

लोकमान्य तिलक पूना से मराठी भाषा में साप्ताहिक पत्र 'केसरी' निकालते थे। उनके विचारों का प्रचार हिन्दी भाषी जनता में करने के लिए पं० माधव राव सप्रे ने अपने साथी डा० मुंजे और डा० लिमये आदि के सहयोग से नागपुर से हिन्दी 'केसरी' साप्ताहिक सन् 1907 में निकाला। काम सीखने के लिए मैं वहां चला गया। जगन्नाथप्रसाद शुक्ल और लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि वहां काम कर रहे थे। वहां द्विवेदी जी की पुस्तक 'स्वाधीनता ग्रन्थमाला' में छप रही थी। सप्रे जी और वाजपेयी जी के लेख 'सरस्वती' में छपते थे। मेरी भी इच्छा हुई कि 'सरस्वती' में कुछ लिखने लगूं। मैंने मराठी से उल्था करके 'मलेरिया के मच्छर' उसमें छपने को सागर से भेजा तो वह प्रकाशित हो गया। इस सिलसिले में द्विवेदी जी से पत्र परिचय हो गया।

लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस में काम करने को मैं सन् 1911 में गया। सागर से लखनऊ जाने को झांसी और कानपुर में गाड़ी बदलनी पड़ती थी। एक बार बिना सूचना दिए, मैं कानपुर स्टेशन पर सामान रखकर पैदल जुही गया तो पता चला कि द्विवेदी जी अपने गांव दौलतपुर गए हुए हैं। विफल मनोरथ होकर मैंने दौलतपुर के पते पर उन्हें इसकी सूचना दी तो उन्होंने उत्तर में लिखा कि हमसे पत्र द्वारा पूछ लेते तो जुही न भटकना पड़ता। इसके दो-एक वर्ष बाद उनसे स्वीकृति पाकर मैं जुही गया तो उनके दर्शन करके निहाल हो गया।

छोटा-सा स्थान। बहुत साफ-सुथरा। अलमारियों में करीने से पुस्तकें रखी हुई थीं। हर एक चीज़ अपने स्थान पर। एक ओर साफ बाइसिकिल रखी हुई थी। जरूरत के वक्त इस पर बैठकर वह कानपुर जाते थे। मुझे प्रेम से बैठाया, बातचीत की और विदा किया। उनके सरल व्यवहार ने कहा कि ऐसे पुण्यपुरुष के दर्शन कर बार-बार लाभ उठाया कर।

सन् 1917 में बच्चों के लिए एक मासिक पत्र 'बालसखा' निकला। इसके सम्पादक हुए आगरे के पं० बदरीनाथ भट्ट बी०ए०, जो गद्य और पद्य दोनों के कुशल लेखक थे। उनको एक सहायक की आवश्यकता हुई। प्रेस के मालिकों को मैंने अर्जी भेज दी। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने सिफारिश कर दी। वह उन दिनों लखनऊ के कालीचरण पाठशाला हाईस्कूल के प्रसिद्ध हैडमास्टर थे। उनसे लखनऊ में ही मेरा परिचय हो गया था। मुझ पर उनकी कृपा रहती थी। सिफारिश तो उन्होंने प्रेस के मालिकों से कर दी, पर सावधान कर दिया कि वहां खूब होशियार रहना, कहीं द्विवेदी जी से संघर्ष न हो जाए। बात यह है कि बाबू साहब और द्विवेदी जी की कम पटती थी।

जो महाशय 'सरस्वती' के प्रूफ देखा करते थे उनके छुट्टी जाने पर मुझे प्रूफ देखना पड़ा। उसमें एक कहानी ऐसी थी जो 'सरस्वती' में पहले छप चुकी थी। वह बंगला भाषा से ली गई थी। वही अब अंग्रेजी से अनूदित होकर कम्पोज़ हो गई। मैंने द्विवेदी जी के पास प्रूफ भेजते हुए लिख दिया कि यह तो पहले छप चुकी है। द्विवेदी जी ने उस कहानी को रोकवा दिया। बदले में दूसरी कहानी छपने को भेज दी। लेकिन इस सूचना के लिए उन्होंने अपना कोई

मनोभाव प्रकट नहीं किया, क्योंकि प्रेस की नौकरी करते समय मैंने उन्हें न तो कोई पत्र लिखा था और न 'सरस्वती' में छपने के लिए ही भेजा था। मेरी समझ में उनकी उदासीनता का यही कारण रहा होगा।

कविकुल चूड़ामणि कालिदास का कहना है कि जल का स्वभाव शीतल होता है किन्तु आंच पाकर वह गरम हो जाता है। द्विवेदी जी के स्वभाव में भी कुछ ऐसी ही उग्रता थी। उनके कोई सन्तान नहीं थी। जीवन संघर्षमय था। उनकी उग्रता का शायद यह भी एक कारण रहा हो। द्विवेदी जी अपने सम्मान के प्रति सदैव सजग रहते थे। उन्होंने प्रेस के मालिकों को यह सूचित कर दिया था कि प्रेस से प्रकाशित होने वाली प्रत्येक पुस्तक की एक प्रति उनके पास भेज दी जाया करे। हिन्दी की विद्वदरत्न माला छपी तो उसमें, इनका स्वभाव कुछ उग्र है, पढ़कर द्विवेदी जी ने प्रेस को लिखा कि मैं एक प्रकार से प्रेस का आश्रित हूं। प्रेस द्वारा प्रकाशित पुस्तक में मेरे लिए यह क्या छाप दिया गया। अंत में पुस्तक का वह पृष्ठ अलग कर दिया गया जिस पर द्विवेदी जी को आपत्ति थी। वह वाक्य निकाल कर पुस्तक में दूसरा पृष्ठ छापकर लगा दिया गया। लखनऊ में मिश्रबन्धुओं से द्विवेदी जी का मतभेद हो गया था। उनके लेखों का संग्रह पुस्तकाकार छापा गया। उसमें, एक लेख में, द्विवेदी जी की कुछ आलोचना थी। उसे पढ़कर द्विवेदी जी ने आपत्ति प्रकट की तो उस पुस्तक को कटिंग मशीन से कटवा कर नष्ट ही कर दिया गया।

दौलतपुर में द्विवेदी जी अक्सर अपने खेतों में टहलने निकल जाते थे। उनके बागों में ऐसे आम के पेड़ थे जिनमें पांच-छः महीने तक फल आते थे। इन फलों का उपयोग करने के लिए वह आम के मौसम में दौलतपुर रहते थे। मन्दाग्नि को दूर करने में फलों का सेवन उन्हें लाभ पहुंचाता था। नींद कम आने में भी फलों के सेवन से कुछ आराम होता था।

द्विवेदी जी में उपकार की भावना प्रबल थी। वह आश्रितों का पालन करते थे, कुछ छात्रों को वृत्ति बांध देते थे और आगतों का स्वागत-सत्कार बड़ी खुशी से किया करते थे। तड़क-भड़क उन्हें पसन्द न थी। सादा जीवन उच्च विचार उनका लक्ष्य था।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की अपने लेखकों के साथ प्रबल आत्मीयता थी। जिस लेखक के मस्तक पर द्विवेदी जी का वरद्हस्त रहा वह उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता गया। उसकी रचना को द्विवेदी जी इतना संवार देते थे कि छपी सूरत में उसे देखकर लेखक सोचता रह जाता था कि मैंने इसको इतना दिव्य रूप दिया ही न था। इस बात का उल्लेख उन लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ किया है, जिन्होंने उनकी कृपा का फल पाया है। पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय कुछ समय तक 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक थे। वह कुछ दिनों के लिए दौलतपुर जाकर रहे थे। वहां उन्होंने द्विवेदी जी के घरेलू व्यवहार से लाभ उठाने का उल्लेख बड़े आदर से किया है। द्विवेदी जी और उपाध्याय जी का बड़ा मधुर सम्बन्ध था। राय देवीप्रसाद पूर्ण 'सुकवि सनेही', पण्डित नाथूराम शर्मा शंकर, रामचरित उपाध्याय, माधवराव सप्रे, और सन्त निहालसिंह आदि 'सरस्वती' के नियमित लेखक थे। और चिरगांव के मैथिलीशरण गुप्त तथा सियारामशरण गुप्त तो द्विवेदी जी के इतने भक्त थे कि गुरुस्वरूप द्विवेदी जी के लिए उन्होंने यहां तक लिख दिया था :—

करते तुलसीदास जी कैसे मानस-नाद
'महावीर' का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।

गुप्तबन्धुओं की घनिष्ठता का इस स्वीकारोक्ति से उत्तम उदाहरण और क्या हो सकता है !

गद्य की अपेक्षा दूसरे के बनाए पद्य को सुधारने में बड़ी निपुणता की आवश्यकता होती है। द्विवेदी जी के पद्य संशोधन कौशल को देखकर मैं विस्मित हो गया। दूसरे के लिखे पद्यों में से अनावश्यक कई पद्यों को अलग कर स्वयं उसी के छन्द में दो-एक पद्य बनाकर आगे-पीछे के सम्बन्ध को संबद्ध करने की कुशलता द्विवेदी जी की विशिष्ट कला थी। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को द्विवेदी जी ने अपना पुस्तकालय इसलिए दान कर दिया कि दौलतपुर और जुही की अपेक्षा वहां उसका अधिक उपयोग होगा। उसी संग्रह में 'सरस्वती' में छपी सामग्री की वे संशोधित कापियां हैं, जो प्रेस में छपने को आई थीं। उन कापियों में सम्पादक के किए हुए संशोधनों को देखकर चमत्कृत होना पड़ता है।

द्विवेदी जी के इस संशोधन कार्य से सन्तुष्ट होने के बदले एकाध लेखक असंतुष्ट भी हो जाता था, पर द्विवेदी जी ने अपना पक्का मार्ग बना लिया था। वह उसी पर चलते थे, कोई संतुष्ट हो या असंतुष्ट। सन् 1920 में जब द्विवेदी जी ने दुबारा 'सरस्वती' का कार्य हाथ में लिया और मुझ को सहायक पाया तो लिखा कि लेखों में संशोधन करने में किसी की रियायत न करो, उसके नाम के साथ लगी पदवियों से बिना डरे काफी काट-छांट कर दिया करो, जिससे रचना निखर जाए। द्विवेदी जी की कठोरता इतनी प्रबल थी कि उनका किसी से मतैक्य न होता और जिससे अनबन हो जाती तो फिर वह उससे समझौता नहीं करते थे। अपने सिद्धांत के पीछे वह अडिग रहते थे। संक्षेप में, यही उनके चरित की मुख्य विशेषताएं हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

एस० बी० पांडे

हिन्दी के महान आचार्य और आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता स्वर्गीय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का जन्म रायबरेली ज़िले के दौलतपुर गांव में सन् 1864 ई० में हुआ था। दौलतपुर के इस निर्धन गांव में एक साधारण ब्राह्मण कुल में शिशु महावीर ने आंखें खोलीं थीं और इसी साधारण ग्रामीण वातावरण में उसका बचपन बीता था। उस समय दौलतपुर की अमराइयों में खेलते हुए या पास ही गंगा के निर्जन कूलों पर दौड़ते हुए इस बालक को कौन हिन्दी का भावी आचार्य और हिन्दी भाषी जनता पर अनुशासन करने वाला बता सकता था। परन्तु प्रसूतिगृह में ही कुल प्रथा के अनुसार इस बालक की जीभ पर सरस्वती का बीजमंत्र लिख दिया गया था। काल पाकर वह मंत्र-विधा सफल हो उठी। शिशु महावीरप्रसाद ने बढ़कर बीस वर्षों तक हिन्दी के विस्तृत क्षत्र पर निरंकुश शासन किया जिसके फलस्वरूप उन्हें आचार्य का आदर-पूर्ण पद मिला और जिनकी पावन स्मृति से हिन्दी भाषा बोलने और लिखने वाली जनता का सर आदर और कृतज्ञता से आज भी झुक जाता है। आधुनिक हिन्दी के जिस रूप को हम आप लिखते हैं, उन्हीं आचार्य द्विवेदी जी के अथक परिश्रम की देन है।

आचार्य द्विवेदी जी का शैशव गांव के सीधे-साधे और निर्धन ग्रामीण वातावरण में बीता था। ग्राम जीवन की छाया ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। अपने जीवन के आखिरी दिनों में भी द्विवेदी जी पर यह छाप स्पष्ट थी। सादगी, सिधाई, भोलेपन की वह मूर्ति वैसी ही रही। लक्ष्मीधर वाजपेई जी के शब्दों में—

'घर के सामने पक्का कुवां, छोटी-सी फुलवाड़ी, अगल-बगल में हिन्दी पाठशाला, डाकघर, अतिथिशाला, गोशाला, सब उसी घर में मिले हुए छोटे

दायरे में थे। सामने मैदान में एक ओर एक पक्का चबूतरा और उस पर छोटा-सा महावीर जी का मन्दिर, फिर माता जी (आचार्य-पत्नी) का मन्दिर, फिर एक बड़ा-सा गहरा तालाब—प्रथम दर्शन में ही उस बीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थ स्थान-सा दिखाई दिया। मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर जूते बाहर उतार कर एकदम आचार्य के कमरे में घुस गया। आप एक बंडी पहने हुए बिलकुल देहाती वज्र गंवार से—एक छोटा-सा झाड़न लिए अलमारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे। पुस्तकों में धूल जमी हुई नहीं थी, पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफ़ाई का काम करते थे और देखते थे कि तमाम कमरा साफ, सामान साफ़ जहां का तहां बाकायदा, बाहर चबूतरा बिलकुल साफ झड़ा हुआ है।

आचार्य छोटा-सा झाड़न लिए सिर झुकाए किताबें झाड़ रहे थे, मैं एकदम गया और पैर छुए। आपने सर उठाया और मेरी ओर अपनी स्वाभाविक जलद-गंभीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई ध्वनि से बोल उठे 'लक्ष्मीधर !' एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गए। मैं बाहर तालाब की तरफ जा कर जंगल की तरफ इधर-उधर देखने लगा। पांच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे जूते जो कमरे के बाहर दरवाजे के पास चबूतरे पर सामने ही धूल धूसरित रखे हुए थे बिलकुल लकदक। मैं देखकर भौंचक्का रह गया।

द्विवेदी जी की सादगी और सहानुभूति का यह सही चित्र है। जीवन का यह आदर्श साहित्य में भी वे उतार लाए थे।

साहित्य की ओर द्विवेदी जी का झुकाव आरम्भ से ही था। बम्बई पहुंचकर वह रुचि अधिक प्रबल हो उठी। फलतः वह कविताएं लिखने लगे, समय की परिपाटी के अनुसार आपकी प्रारम्भिक रचनाएं भी ब्रज भाषा में ही हुई हैं परन्तु शीघ्र ही आपने देख लिया कि हिन्दी के क्षेत्र के विस्तार के लिए बोलचाल की भाषा में ही साहित्य की रचना आवश्यक होगी। शीघ्र ही आपने खड़ी बोली को अपना लिया और न केवल स्वयं ही उसे अपनाया बल्कि एक कुशल पथदर्शक की भांति कितने ही लेखकों को उस ओर ले चल कर उसे साहित्य की सर्वमान्य

भाषा भी बना दिया। आचार्य जी ने हिन्दी सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य ही बना लिया था और उनके जीवन का लक्ष्य ही हिन्दी प्रचार और विस्तार तथा उसमें उच्च कोटि की साहित्यिक रचना हो गया। इसके लिए उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ा, बैठे-बिठाए कठिनाइयों को झेलना पड़ा और कितने ही शत्रु-मित्र बने। किन्तु आचाय जी ने बड़ी लगन से उस ध्येय की पूर्ति की—बीस वर्ष तक 'सरस्वती' को पाकर आपने अपने जीवन को एक साधना में बदल दिया और गद्य और पद्य बराबर लिखकर और उसके आधार पर लिखवा कर आपने हिन्दी भाषा और साहित्य का जो उपकार किया है, उसका प्रतिदान हिन्दी भाषी जनता कभी न दे सकेगी।

हिन्दी भाषा का रूप आचार्य जी के साहित्य क्षेत्र में आने के समय बड़ा अनिश्चित था—उसमें बड़े-बड़े साहित्यिक लेखक व्याकरण की भूलें करते थे। कोई नियम न था—कोई नियंत्रण न था। अराजकता चल रही थी। जिसने जैसे चाहा भाषा से मनमानी की। द्विवेदी जी को लेखकों की यह निरंकुशता असह्य हो उठी—उन्होंने देखा कि यह लक्षण जीवित और समुन्नत भाषा के न थे। अतएव उन्होंने समय-समय पर बड़ी निर्भीकता के साथ इन भूलों को अपने लेखों से दिखाया और एक कुशल शिल्पी की भांति भाषा को सुन्दर और परिमार्जित रूप दिया।

द्विवेदी जी सुधारक थे--उनके सामने हिन्दी के विस्तार और परिमार्जन का प्रश्न था—अतः उनकी कविता में कोरी कल्पना की वह उड़ान नहीं मिल पाती जो अन्य कवियों की रचनाओं में रस का सृजन करती है। साथ ही साथ उन के पास इतना समय भी नहीं था कि वह एक के साथ भावुक स्थिति में अधिक देर तक रह सकें—उनकी कविता सदैव एक उद्देश्य के साथ चलती थी।

आचार्य कभी-कभी बड़ा सुन्दर मज़ाक भी कर बैठते थे। एक बार प्रेस पधारे। मेरे कमरे में आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे हम लोग—मैं, चि० हरि शंकर, चि० पन्नालाल—आस-पास बैठे थे—एकाएक मुझ से पूछ बैठे— "काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी सखी, सलोनी, को आयं ? तुम्हारी कविता मां इनका बड़ा जिकर रहत है।" मुझे बड़ी झेंप लगी, सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई,

लड़के लोग हँस पड़े—तब मैंने अपना साहस बटोर कर कहा—"महाराज बूढ़े हो गए हो; इन सबका जानिकै का करिहों ?" इस पर बड़ा ठहाका मार कर वे हँसे और मुझे चपत लगाते हुए बोले—"अरे तुम बड़े मुरहा हो"—आचार्य जी का सारा जीवन स्नेह और ज्ञान से भरा था—जहां उनमें दूसरे के प्रति इतनी उदारता और स्नेह था वहां वह निठुर भी थे और बुराई पाकर दया करना नहीं जानते थे। उनकी आलोचनाएं इसका सजीव प्रमाण हैं—परन्तु इस सब के पीछे हिन्दी के कल्याण और उन्नति की भावना ही थी जो उसे हिन्दीप्रेमी के लिए आदर और श्रद्धा की वस्तु बना देती है और हम आचार्य द्विवेदी जी के सामने कृतज्ञता से सिर झुका लेते हैं।

पथप्रदर्शक आचार्य

प्रयागनारायण त्रिपाठी

हिन्दी गद्य-पद्य का आज जो रूप है उसका अधिकांश श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को है। सदासुखराय, सदल मिश्र, लल्लूजी लाल और सैयद इंशाअल्ला खां ने, जो प्राय: समकालीन थे, हिन्दी गद्य को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप दिया। परन्तु वह गद्य, आज के गद्य से बहुत भिन्न था। उसमें एक आकर्षण तो था, जैसा कि खान से निकले अनगढ़ हीरे में होता है, पर उसको परिष्कृत करने की बड़ी आवश्यकता थी। यह काम आचार्य द्विवेदी और उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' ने किया।

हिन्दी गद्य के विकास का क्रम नीचे दिए गए कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगा। इंशाअल्ला खां ने हिन्दी को अपनाने का कारण बताते हुए लिखा था—'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी को छुट और किसी बोली का पुट न मिले; तब जा के मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले।' आगे चल कर अपनी अभिव्यक्ति को और भी नाटकीय बनाते हुए उन्होंने लिखा था—'अब कान रख के आंखें मिला के, सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूं और अपने फूल के पंखड़ी जैसे होठों से किस-किस रूप के फूल उगलता हूं।' इस चटपटी भाषा के मुकाबले लल्लूजी लाल ने अपने 'प्रेमसागर' की भाषा में काफी गाम्भीर्य बनाए रखा। 'प्रेमसागर' की भूमिका में उन्होंने लिखा—'श्रीयुत गुन गाहक, गुनियन सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से सम्वत् 1860 में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र-अवदीच आगरे वाले ने विसका (चतुर्भुजदास कृत भागवत दशम स्कंध के अनुवाद का) सार ले, यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम प्रेम-सागर धरा।' इससे प्राय: मिलती-जुलती, लेकिन कुछ पण्डिताऊ किस्म की भाषा का प्रयोग पंडित सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' के अनुवाद के

आरम्भ में किया—'चित्र विचित्र सुन्दर-सुन्दर बड़ी-बड़ी अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभायमान नगर कलिकत्ता महाप्रतापी वीर नृपति कंपनी महाराज के सदा फूल फूला रहे, कि जहां उत्तम-उत्तम लोग बसते हैं और देश-देश से एक से एक गुणीजन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द में मगन होते हैं। नाम सुन सदल मिश्र पंडित भी वहां आन पहुंचा।' इन तीनों से कुछ हटकर अधिक परिष्कृत तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है मुंशी सदासुखराय ने। वे साधु भाषा के हामी थे—'इससे जाना गया कि संस्कार भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उक्त हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं।'

गद्य के विकास के इतिहास में उपर्युक्त चार नामों के बाद राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और राजा लक्ष्मणसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। हिन्दी गद्य साहित्य के सरोवर में उपर्युक्त धाराओं के आगमन से जल तो प्रभूत मात्रा में संचित होता रहा, पर उसे अभी थिराना और थिर कर दर्पण-स्वच्छ बनना शेष था। इसी दायित्व को आचार्य द्विवेदी जी ने अपने हाथ में लिया और सफलतापूर्वक उनका निर्वाह किया। उन्होंने जहां एक ओर 'सरस्वती' में लिखे गए अपने अग्रलेखों, आलोचनाओं एवं कविताओं द्वारा खड़ी बोली के परिष्कृत एवं व्याकरण सम्मत रूप को प्रस्तुत किया, वहीं हिन्दी के अनेक छोटे-बड़े लेखकों एवं कवियों को प्रोत्साहन देकर, उनकी कृतियों का संशोधन करके उन्हें स्पष्ट, निर्भीक तथा सुचिन्तित सुझाव देकर भाषा को ऐसा निखार दे दिया जिससे वह संक्रान्ति और विज्ञान के युग के विचारों और भावनाओं का समुचित वाहन बन सके। स्वयं द्विवेदी जी ने किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है, यह उनके एक 'नाटक' शीर्षक निबन्ध के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट हो जाएगा—

'काव्य दो प्रकार के होते हैं – एक श्रव्य, दूसरे दृश्य। जिसमें कवि किसी वस्तु का स्वयं वर्णन करता है, वह श्रव्य काव्य है। अर्थात् जिसे सुनने से आनन्द मिलता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। रघुवंश, किरात, नैषध, रामायण, सतसई आदि श्रव्य काव्य हैं। जिसमें कवि कुछ नहीं कहता, जो कुछ उसे कहना होता है

उसे वह उन बातों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों से कहलाता है उसे दृश्य काव्य कहते हैं। अर्थात् जिसे देख कर आनन्द मिलता है वह दृश्य काव्य है। 'शाकुन्तल', 'रत्नावली', 'विक्रमोर्वशीय', 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' आदि दृश्य काव्य हैं।'

हिन्दी गद्य को सजाने-संवारने और निखारने के लिए आचार्य द्विवेदी ने जो कार्य किया, उसके सम्बन्ध में हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी ने जो कुछ लिखा है, वह दृष्टव्य है। शैली की तीन विशेषताओं, अर्थात् वैयक्तिकता, ऐतिहासिकता और शास्त्रीय उपस्थापन की दृष्टि से आचार्यश्री की समीक्षा करते हुए हज़ारीप्रसाद जी ने उन्हें 'एक आश्चर्यजनक अवतारी पुरुष'—कहा है और लिखा है—'दो बातें स्पष्ट ही समझ में आ जाती हैं। पहली यह कि यह आदमी नख से शिख तक ईमानदार है। वह ऐसी एक भी पंक्ति जो दूसरे ने लिखी हो, अपने नाम से नहीं चलाना चाहता। इस नाम कमाने के उपहासास्पद युग में, जब नामी-नामी लेखकों में भी दूसरे के वक्तव्य-वस्तु को नया चोला पहना कर अपनाने की पागलपनभरी धुन सवार है, वह अकेला प्रवाह के विरुद्ध निश्चल खड़ा है। दूसरी बात यह कि उसने ज्ञान के प्रचार को पूजा की बुद्धि से ग्रहण किया है उसमें उसने आत्मशुद्धि के साथ ही मन्दिर की सफाई की ओर भी ध्यान दिया है। जो कुछ भी सड़ा-गला है, कूड़ा-कर्कट है, उसे वह मन्दिर में देख नहीं सकता। इस विषय में वह निर्भय और कठोर है।' आगे चलकर हजारीप्रसाद जी लिखते हैं—'हम उस युग (द्विवेदी युग) के अन्यान्य साहित्यिक महारथियों की महिमा को सम्पूर्ण स्वीकार करते हुए भी निःसंकोच कह सकते हैं कि भाषा को युगोचित, उच्छ्वासहीन, स्पष्टवादी और वक्तव्य अर्थ के प्रति ईमानदारी बनाकर जो काम द्विवेदी जी कर गए हैं वही उन्हें हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी बनाता है। साधारणतः साहित्य क्षेत्र में भाषा के प्रजापतिगण केवल शैली और भाषा के बल पर इस महत्वपूर्ण आसन पर अधिकार नहीं करते, परन्तु द्विवेदी जी एक ऐसे अद्भुत मुहूर्त में आए थे और एक ऐसी प्रकृति और ऐसा संस्कार लेकर आविर्भूत हुए थे कि वे उस आसन पर निर्विवाद भाव से अधिकार कर सके।'

हिन्दी का रूप निखारने और उसे व्याकरण-सम्मत बनाने के प्रयत्न में आचार्य द्विवेदी को प्रायः अनेक समसामयिक हिन्दी लेखकों से टक्कर भी लेनी

पड़ी । अनेक वाद-विवाद उठ खड़े हुए, जैसे—'अस्थिरता' शुद्ध है या 'अनस्थिरता बा० बालमुकुन्द गुप्त, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी—इन सभी से तथा अन्य कई विद्वानों से उनका विवाद हुआ । परन्तु द्विवेदी जी की स्पष्टवादिता, हिन्दी-हितैषिता और न्याय-निष्ठा के कारण ये विवाद कभी भी वैयक्तिक कटुता की सीमा तक नहीं पहुंचे और अन्त में सभी से उनका सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण होगया ।

*

परन्तु विवाद और आलोचना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य था अथक गति से नए लेखकों का मार्गप्रदर्शन और प्रोत्साहन । पं० श्रीधर पाठक की कविताओं के वह कायल थे और एक पत्र में उन्होंने पाठक जी को लिखा था—'बहुत दिन से आपकी कौशल्य शालिनी लेखनी ने कोई नूतन ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के कोश में नहीं स्थापन किया । आपका 'ऊजड़ ग्राम' और 'योगी' तो इतना ललित और स्वाभाविक है कि अनेक बार पढ़ने पर भी फिर-फिर पढ़ने को जी चाहा करता है । कहा भी है, 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' पाठक जी को ही लिखे गए एक अन्य पत्र में व्याकरणसम्मत भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—'हम पुरानी प्रथा के सर्वतोभाव से प्रतिकूल नहीं । पर हम यह भी नहीं कहते कि वह सर्वथा निर्दोष है । कोई-कोई पुरानी रचना ऐसी है जिसे देखकर घिन लगती है । बोलने में व्याकरण के नियमों का यदि अनुसरण न किया जाए तो विशेष आक्षेप की बात नहीं । पर लिखने में ऐसा होना अच्छा नहीं । संस्कृत क्यों अब तक निर्दोष बनी है ? उसकी रचना व्याकरण के अनुसार होती है, इसलिए । पालि और प्राकृत आदि भाषाएं क्यों लोप हो गईं ? उनका व्याकरण निर्दोष नहीं । अतएव उनकी रचना भी निर्दोष नहीं । हिन्दी में कोई अच्छा व्याकरण नहीं, जिसे सब लोग मानें । इससे जिसके जी में जो आता है वही लिखता है । यह भाषा का दुर्भाग्य है । इससे उसे कभी स्थिरता न प्राप्त होगी ।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को द्विवेदी जी ही साहित्यक्षेत्र में लाए और बड़े ही मनोयोग से उनका पथप्रदर्शन करते रहे । गुप्त जी के एक काव्य ग्रन्थ को पढ़ने के बाद द्विवेदी जी ने लिखा था—'इसे देख लिया । ध्यान से । यत्र-तत्र

पेंसिल के निशान और सूचनाएं देख जाइए। उत्तम काव्य है। उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध करने की अपेक्षा 7 सर्गों में विभक्त करना अच्छा हुआ। एक खासा काव्य हो गया। इसमें कहीं-कहीं पर क्लिष्टता खटकती है। यथासम्भव उसे दूर करने का यत्न कीजिएगा। नहीं तो टिप्पणियां दे दीजिएगा।' कैसी संक्षिप्ति, किन्तु कितनी सारगर्भिता। मानो पत्र नहीं, सूत्र लिखे गए हों।

गुप्त जी को ही लिखे गए एक अन्य पत्र में द्विवेदी जी ने काव्य विषयक अपनी मान्यता को इस प्रकार स्पष्ट किया था—'भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हों। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्राय: एक-से होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे—देश-काल से मर्यादाबद्ध न हो। ऐसी ही कविता अमर होती है।' अच्छा हो यदि हमारे आज के कवि इन वाक्यों को लिख कर अपने अध्ययन कक्ष में ऐसी जगह लगा लें जहां काव्य-रचना में प्रवृत्त होने के पहले उनकी दृष्टि इन पर अवश्य पड़ सके।

गुप्त जी ने आचार्य श्री के प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करते हुए लिखा है—'सरस्वती' में नाम छपने का लोभ प्रबल था। आशा भी बलवती थी। एक रचना भेज दी और उत्सुकता से मैं उनके पत्र की प्रतीक्षा करने लगा ···यथा समय उत्तर आ गया—"आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। 'सरस्वती' में हम बोल-चाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएं छापना पसन्द करते हैं।"···'बोल-चाल की भाषा' अर्थात् 'खड़ी बोली' और 'पुरानी भाषा' अर्थात् 'ब्रज भाषा'।

यह था द्विवेदी जी का खड़ी बोली के प्रति तीव्र प्रेम।

इसके बाद जब गुप्त जी की 'हेमंत' शीर्षक कविता 'सरस्वती' के नव-वर्षांक में प्रथम बार छपी तो, स्वयं गुप्त जी के शब्दों में—'मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा।···पढ़ने पर मेरा आनन्द आश्चर्य में बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्द्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी। कहां वह कंकाल और कहां यह मूर्ति। वह कितना विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पण्डित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से

मेरा मस्तक झुक गया।' गुप्त जी ने आचार्यश्री के प्रति बड़े ही मार्मिक शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है—'अयोग्य देखकर भी पण्डित जी ने मुझे त्यागा नहीं, सदा के लिए अपना लिया। मुझे बोल-चाल की भाषा में पद्य रचने का 'गुर' मिल गया।······अपने प्रभु से यही प्रार्थना करता हूं कि परलोक में भी उनका-सा पथप्रदर्शक मुझे प्राप्त हो।'

*

आचार्यश्री छोटे से छोटे व्यक्ति और छोटी से छोटी बात को भी उतना ही महत्व देते थे, जितना किसी भी महान साहित्यिक समस्या या व्यक्ति को। वैयक्तिक सम्पर्क—पर्सनल टच—उनके सहज, सरल, महान् व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महान् लेखक बनना उतना कठिन नहीं, जितना महान् मानव बनना। ऐसी महानता उन्हें सहज ही उपलब्ध थी। इसका एक ही उदाहरण अलम् होगा। अपने स्नेह-भाजन पंडित किशोरीदास वाजपेयी को उनके पुत्र के जन्म पर पत्र लिखते हुए आचार्य श्री ने लिखा था—'आपको पुत्र की प्राप्ति हुई, यह सुनकर बड़ी खुशी हुई। मधुसूदन के जोड़ का कोई अच्छा नाम नहीं सूझ पड़ता। मेरी बुद्धि की जड़ता बढ़ गई है। नीचे के नामों में से कोई पसंद हो तो चुन लीजिए—मुकुन्द माधव, मयंक मोहन, राधिकारमण, श्रीकान्त, शशांक सुन्दर, राधिका रंजन, रजनीकान्त, शशिशेखर, कमला कान्त, राजीव लोचन, चारुचन्द्र।'

इन पंक्तियों के लेखक ने, जो उनके जन्म-स्थान दौलतपुर से प्रायः दो मील दूर रायपुर-मझिगवां का रहने वाला है, एक बार अपने एक सम्बन्धी से भेंट करने के लिए दौलतपुर की यात्रा की। आचार्यश्री के भी दर्शन किए। बड़े ही स्नेह से उन्होंने कुशल-क्षेम पूछी, और, सन्ध्या-भ्रमण का समय आ जाने के कारण अपने साथ ही ग्राम के बगीचों की ओर ले गए और अनेक विषयों पर बातें करते रहे— सीख देते रहे। आज भी जब उन क्षणों का स्मरण करता हूं तो लगता है, मानों अभी भी वह अपनी वात्सल्य पूर्ण वरद दृष्टि से मुझे देख रहे हैं, उनकी गगन-गंभीर वाणी मेरे कानों में अमृत उंडेल रही है, वह कह रहे हैं—'खूब मन लगाय के पढ़ौ-लिखौ। नगीचे रहति हौ। जब मन होय, आय जावा करौ।' परन्तु फिर कभी उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे न मिल सका।

द्विवेदी-युग में पत्रकारिता

बनारसीदास चतुर्वेदी

पत्रकारिता में युगों की अवधि को ठीक-ठीक निश्चित करना कोई आसान काम नहीं है। एक युग दूसरे युग से मिल-जुल जाता है। कोई पत्र एक युग में प्रारम्भ होता है, दूसरे युग में उसका यौवन प्रस्फुटित होता है और सम्भवत: तीसरे युग में उसका अन्त भी हो जाता है। यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि हमारे पत्र प्राय: दीर्घजीवी नहीं होते। इस समय शायद तीन-चार पत्र ही ऐसे होंगे, जिनकी आयु 60 बरस से ऊपर की हो।

द्विवेदी युग का समय हम साधारणत: सन् 1900 से लेकर सन् 1925 तक मानते हैं। द्विवेदी जी ने अपनी पत्रिका का सम्पादन् सन् 1903 से 1918 तक किया, यद्यपि वह बहुत पहले से लिखने लगे थे और काम छोड़ने के बाद भी कुछ बरस तक उन्होंने लिखना जारी रखा था।

द्विवेदी युग कई कारणों से हिन्दी पत्रकारिता में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्हीं के युग में भाषा का परिमार्जन हुआ, खड़ी बोली ने अपना स्थान ग्रहण किया और उसी युग में द्विवेदी जी के प्रमुख शिष्य अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा आदर्शवादी पत्रकारिता अपनी चरम सीमा तक पहुंची। यद्यपि स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, श्री माधवराव सप्रे तथा पं० सुन्दर लाल, इत्यादि ने गणेश जी के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था, तथापि अन्यायों और अत्याचारों के विरुद्ध डट कर लोहा लेने की मनोवृत्ति और विदेशी सत्ता के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करने की उत्कट अभिलाषा स्वर्गीय गणेश जी में ही अवतरित हुई थी। सुना है कि संस्कृत के पण्डित अपने सुयोग्य शिष्यों और प्रशिष्यों के गौरव का अभिमान किया करते हैं और यह सर्वथा उचित ही है। इस दृष्टि से निस्सन्देह आचार्य पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। पूज्य द्विवेदी जी और उनके शिष्यों तथा

प्रशिष्यों ने हिन्दी पत्रकारिता पर अमिट छाप छोड़ी है। उन्हीं की परम्परा के एक महान् पत्रकार और कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' थे।

जहां तक पत्रकारिता में स्वाधीन विचारों को प्रकट करने का प्रश्न है, स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट और उनके प्रमुख शिष्य राजर्षि टण्डन जी तथा पं० सुन्दरलाल जी ने जबर्दस्त काम किया था। पं० सुन्दरलाल जी के 'कर्मयोगी' तथा 'भविष्य' की सेवाओं को कैसे भुलाया जा सकता है? इन्हीं लोगों के साथ पं० कृष्णकान्त जी मालवीय का भी नाम लिया जाना चाहिए, जिन्होंने 'अभ्युदय' तथा 'मर्यादा' के द्वारा अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया था। महामना मालवीय जी ने भारतीय पत्रकारिता की जो महान् सेवा की, उसका उचित मूल्यांकन अभी भी नहीं हो सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि मालवीय जी की प्रतिभा बहुमुखी थी और इतने क्षेत्रों में उन्होंने काम किया था कि उसका सर्वांगीण वर्णन करना कठिन है। पर पूज्य मालवीय जी तो अपनी अमूल्य सेवाओं के कारण भारतीय इतिहास में अमर रहेंगे ही। खेद इस बात का है कि हम लोगों ने कृष्णकान्त जी की सेवाओं को बिल्कुल भुला दिया।

द्विवेदी युग में जो वाद-विवाद चले, वे अब इतिहास की वस्तु हो गए हैं। द्विवेदी जी ने बीसियों लेखकों और कवियों का निर्माण किया था और उनमें से कई आगे चलकर यशस्वी पत्रकार और सम्पादक बने। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, पं० गिरधर शर्मा नवरत्न, गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही, रूपनारायण जी पांडेय, पं० रामनरेश त्रिपाठी और ठाकुर गोपालशरण सिंह, इत्यादि को द्विवेदी जी ही प्रकाश में लाए। उनकी पत्रिका में कविवर पं० नाथूराम शर्मा शंकर, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० पद्मसिंह जी शर्मा, श्री सत्यनारायण कविरत्न और श्री बदरीनाथ भट्ट की रचनाएं प्रकाशित होती रहीं। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी तथा श्री हरिभाऊ जी उपाध्याय ने तो उनके यहां सहायक के रूप में काम किया था। द्विवेदी जी ने अपनी पत्रिका में भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक लेख छापे। रंगीन चित्र और व्यंग-चित्र प्रकाशित किए। बालकों तथा स्त्रियों के लिए विशेष रचनाएं छपीं और अपनी पत्रिका को काफी मनोरंजक बना दिया। जहां तक समय की पाबन्दी का प्रश्न है, द्विवेदी जी ने जो स्तर कायम किया, वह हिन्दी जगत् में अभी तक अद्वितीय है।

●

द्विवेदी जी के पत्र

पं० देवीदत्त शुक्ल

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के निर्माताओं में से थे। 'सरस्वती' में आने से पहले से ही हिन्दी की सेवा का कार्य उन्होंने शुरू कर दिया था। इसके लिए वह तत्कालीन साहित्यिकों से मिलते-जुलते रहते थे तथा उनसे पत्र-व्यवहार भी चलता था। 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के बाद उनका यह मिलना-जुलना तथा पत्र-व्यवहार और भी बढ़ गया था। उनके पत्र रोचक तथा बड़े काम के होते थे। सन् 1915 में मैंने अपने दो लेख 'सरस्वती' में छापने के लिए भेजे थे। उनको स्वीकार करते हुए उन्होंने मुझे अपने 11-11-1915 के पत्र में लिखा :

'पोस्ट कार्ड मिला। दोनों लेख भी मिले। आपने बड़ी कृपा की। मैं बहुत कृतज्ञ हुआ। इन लेखों को 'सरस्वती' में निकालने की मैं अवश्य चेष्टा करूंगा। अवकाश मिलने पर कुछ न कुछ लिख भेजा कीजिए। जहां तक हो सके भाषा सरल बोल-चाल की हो। क्लिष्ट संस्कृत शब्द न आने पावें। मुहावरे का ख्याल रहे। वाक्य छोटे-छोटे हों।'

एक नए लेखक के लिए यह पत्र कितना उत्साहवर्द्धक हो सकता है। लेखक के दोष द्विवेदी जी ने कितने मधुर ढंग से बता दिए। वस्तुत: वह ऐसे ही मृदुल स्वभाव के थे। उनकी यह पहली शिक्षा थी और इसे पाकर मैंने अपने को धन्य माना।

गोरखपुर की 'ज्ञानशक्ति' नाम की पत्रिका में पंच मकारों के सम्बन्ध में एक लेख छपा था। उसका प्रतिवाद लिखकर मैंने द्विवेदी जी के पास भेज दिया। उन्होंने उसे 'प्रताप' में छपवा दिया। उन्हीं दिनों 'ज्ञानशक्ति' के सम्पादक पंडित शिवकुमार शास्त्री कानपुर आए और द्विवेदी जी से भी मिले।

शायद मेरे प्रतिवाद के सम्बन्ध में उन्होंने द्विवेदी जी से बातचीत की। अतः द्विवेदी जी ने अपने 18-3-17 के पत्र में मुझे लिखा :

" 'ज्ञानशक्ति' ने फिर कुछ नहीं लिखा। शायद लिखें भी नहीं। उसके सम्पादक एक दिन यहां आए थे। बहुत बातें हुईं। उनकी अकल कुछ-कुछ ठिकाने आ गई मालूम होती थी।"

नए लेखक को प्रोत्साहित करने का यह उनका दूसरा ढंग था। उक्त प्रतिवाद वह 'सरस्वती' में नहीं छाप सकते थे। परन्तु उन्होंने उसे लौटाया नहीं। एक दूसरे पत्र में छपवा दिया। यही नहीं, जब 'ज्ञानशक्ति' के सम्पादक से भेंट हुई तब मेरा पक्ष लेकर उन्होंने उनसे बहस तक कर डाली। वह साधारण लेखकों को इस प्रकार बढ़ावा देकर कुछ ही दिनों में लेखक बना देते थे।

द्विवेदी जी की बहन की सौत दौलतपुर में रहा करती थीं। वही उनके घर की मालकिन थीं। उनके घर के लोगों की चिकित्सा प्रायः हमारे भाई किया करते थे। कदाचित् इसी के बदले के रूप में तीन ऊनी लोइयां और एक साफ़ा द्विवेदी जी ने हमारे घर भिजवाया। मुझे अच्छा न लगा और मैंने लिखा कि यह सब हमें न चाहिए।

इसका द्विवेदी जी ने बहुत मार्मिक उत्तर 20-11-17 के पत्र में दिया। उन्होंने लिखा :

"हमें इस तरह की भेंट न चाहिए......यह जानकर रंज हुआ।
ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं मित्रलक्षणम्॥

यदि मुझे आप अपना बन्धु बनाना नहीं चाहते तो क्या मित्रभाव भी रखना नहीं चाहते।

आप जब जो चाहिए, दीजिएगा। मैं ले लूंगा। आप को नहीं चाहिए, क्या यह मैं नहीं जानता? पर बन्धुत्व और मैत्रीभाव क्या चाहने की अपेक्षा रखते हैं।"

वह ऐसे ही सहृद, विनम्र और व्यवहारकुशल व्यक्ति थे। यहां तक कि छोटे-बड़े का भी ध्यान नहीं रखते थे और सबसे समता का ही व्यवहार करते थे।

सन् 1919 में घर के काम-काज से ऊब कर मैंने बाहर जाकर नौकरी करने का निश्चय किया। इसकी खबर जब द्विवेदी जी को लगी, तब उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि तुम्हारी नौकरी का प्रबन्ध मैं कर दूंगा। इधर-उधर जाने का विचार छोड़ दो। मुझे नौकरी दिलाने के लिए वह प्रयाग तक दौड़े गए। 30-8-19 को उन्होंने प्रयाग से अंग्रेज़ी में मुझे एक पत्र लिखा कि 'पचास रुपया मासिक वेतन पर तुम एक प्रेस में नियुक्त हो गए हो। अतएव कानपुर में मुझ से मिलते हुए तुम इलाहाबाद चले आओ।' वह ऐसे ही सहृदय थे और सबकी सहायता के लिए सदैव तत्पर रहते थे।

द्विवेदी जी ने अपनी अस्वस्थता के कारण 'सरस्वती' के सम्पादन कार्य से छुट्टी ले ली थी। स्वस्थ न होते हुए भी उन्हें सन् 1920 में 'सरस्वती' का कार्यभार फिर संभालना पड़ा।

सन् 1921 के प्रारम्भ में द्विवेदी जी को प्रेस ने पैंशन दे दी। परन्तु वह स्वस्थ न रहते हुए भी 'सरस्वती' में बराबर लिखते रहते थे। अपने लेखों आदि के सम्बन्ध में वह सदैव यह लिखते रहते थे कि 'काम का हो तो छापिएगा, अन्यथा नहीं।' उन दिनों मैं 'सरस्वती' का सहायक सम्पादक था। बख्शी जी छुट्टी पर चले गए थे। अतएव उन्होंने मुझे एक पत्र अपने लेखों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा था :

'मार्च की कापी के साथ मैंने एक नोट भेजा था—अफीम की बेरोक-टोक बिक्री' उसे आपने फरवरी ही में निकाल दिया, यह बहुत अच्छा किया। फरवरी की कापी में दो नोट और थे : (1) विज्ञान विमर्श और (2) देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा। वे फरवरी में नहीं छपे। क्या मिले नहीं या खो गए? या छापना ठीक नहीं समझा गया? अगर सबसे पिछली बात हो तो संकोच की ज़रा भी ज़रूरत नहीं। न फाड़ा हो तो अब उन्हें फाड़ फेंकिए। एक भी आक्षेप योग्य नोट या लेख 'सरस्वती' में न छपना चाहिए।'

बख्शी जी चले गए थे। अतएव 'सरस्वती' का सारा भार मुझ पर आ पड़ा। मैथिली बाबू की एक कविता पर सरकार को एतराज़ था। उस कविता के पक्ष में—'सरस्वती' में छापने के लिए द्विवेदी जी ने एक लेख लिखा। उस लेख में उन्होंने उस कविता की दो पंक्तियां भी उद्धृत कर दीं। उन पंक्तियों का 'सरस्वती' में छपना कानून की दृष्टि से ठीक न होता। पत्र लिखकर मैंने द्विवेदी जी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उन्होंने उसका उत्तर अपने 5-11-25 के पत्र में इस प्रकार दिया :

"3 ता० का पोस्टकार्ड मिला। बहुत अच्छा, दोनों सतरों को निकाल दीजिए। उनकी जगह नीचे का मज़मून रख दीजिए :

'इस कविता की दो पंक्तियों का आशय है कि न मालूम कब से यह भारत सुनसान मसान हो रहा है। इस कारण, हे व्योमकेश जी, झटपट आकर उसे विकराल विपत्ति से बचा लीजिए।'

प्रसंग ठीक कर दीजिए। आवश्यकतानुसार शब्दों में हेर-फेर कर दीजिए। या जो मज़मून मैंने ऊपर लिखा है उसे और किसी तरह लिख दीजिए।"

उनमें ऐसी ही सहज सरलता थी। कोई भी क्यों न हो, यदि वह ठीक बात कहता है तो वह तत्काल उसकी बात मान लेते थे। ऐसा करने में वह अपनी हेठी नहीं समझते थे।

पेंशन लेने के बाद द्विवेदी जी ने बहुत लिखा। परन्तु अपने नाम से नहीं, अधिकतर कल्पित नाम से ही। 1929 की जनवरी की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी का एक लेख छपा। न मालूम कैसे मैंने बिना उनकी अनुमति लिए ही उस लेख के साथ उनका नाम दे दिया। साथ ही लेख के अन्त में उनका कल्पित नाम 'द्विरेफ' भी भूल से छप जाने दिया। इस पर अपने 29-1-29 के पत्र में वह लिखते हैं :

"जनवरी की 'सरस्वती' में आपने एक अच्छी दिल्लगी कर डाली है। मेरे लेख के पहले पृष्ठ के बीच में तो मेरे नाम का इश्तिहार दे दिया, पर अन्त में 'द्विरेफ' ही रहने दिया। वहां भी क्यों नाम न दे दिया? मैं अपना नाम इस लेख में न देना चाहता था।"

वह अपने कृपापात्र को कितने सरस ढंग से क्षमा कर दिया करते थे, इसका यह पत्र प्रमाण है।

हिन्दी के एक पत्र में मेरे एक मित्र की एक रीडर की समालोचना छपी थी। समालोचना के छपने पर मालूम हुआ कि वह द्विवेदी जी की लिखी हुई है। मेरे उक्त मित्र द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे। अतएव द्विवेदी जी को मैंने एक पत्र लिखा कि आपको उनकी पुस्तक की आलोचना नहीं करनी चाहिए थी। उसका उत्तर द्विवेदी जी ने अपने 3-10-31 के पत्र में इस प्रकार दिया :

'उक्त पत्र के सम्पादक मुझसे मिलने भी आए थे वह रीडरबाज़ों की अक्सर खबर लिया करते हैं। इससे वह लेख उन्हें भेजा। मना किया था कि मेरा नाम प्रेसवालों तक से न बतावें। उन्होंने विश्वासघात किया। एडीटर ऐसा नहीं करते। दो-तीन हफ्ते पास रखकर लेख का अंतिम अंश काट कर छापा। उसमें पाठकों से यह भी प्रार्थना थी कि कोई उसका अंग्रेज़ी अनुवाद डायरेक्टर को भेजे ताकि किताब की गलतियां दूर कर दी जाएं। मुनियां, सात वर्ष की, मदरसे में वही किताब पढ़ती है। एक सबक की बातें मुझसे पूछने लगी। वह समझी नहीं। तब मैंने उसे पढ़ा। पढ़ने पर लिखने, छापने और मंजूर करने वालों पर क्रोध आया। इससे यह लेख लिख क्या मारा, एक रद्दी कागज़ पर घसीट कर भेज दिया। उस भले आदमी ने मेरा नाम प्रकट कर दिया। बताओ अब क्या करूं? आपके उक्त मित्र जी की शकल-सूरत मैंने नहीं देखी। कौन कहां के हैं, नहीं जानता। कभी पत्र-व्यवहार तक नहीं हुआ। भक्त या अभक्त होने की मुझे क्या खबर? कुछ दुश्मनी तो निकाली नहीं। सर्वसाधारण का लाभ समझ कर लेख लिखा। जो प्रायश्चित कहिए, करूं। या उन्हीं से पूछिए, क्या आज्ञा है। सम्पादक जी को तो अब मैं कुछ लिखना चाहता नहीं।'

मैं चाहता था कि द्विवेदी जी की एक जीवनी लिखी जाती। यदि मुझे उनके पास रहने का पहले की तरह समय मिलता तो मैं घेर-घार कर जीवनी क्या, आत्मकथा ही उनसे लिखवा लेता। परन्तु प्रेस में हो जाने से मैं वह काम नहीं कर सकता था। अतएव मैंने यज्ञदत्त को ठीक किया। और एक प्रश्नावली उन्हें लिखवा दी कि वह द्विवेदी जी से इन प्रश्नों का उत्तर पूछकर लिख लें।

ग्रौर तब उनका जीवन-चरित्र लिखने का प्रयत्न हो। यज्ञदत्त द्विवेदी जी के भांजे कमलाकिशोर के बहनोई थे। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने मुझे अपने 4.2.32 के पत्र में इस प्रकार लिखा :

'जीवनी लिखने का ढकोसला सिर्फ पुस्तक बेचकर रुपया कमाने से है, न कि जनता के लाभ के लिए, न मुझ पर प्रेम के कारण, न हिन्दी साहित्य की हितैषणा से। मैंने लिखने की अनुमति नहीं दी, सिर्फ यही कहा कि मेरे विषय में जिसका जो जी चाहे, लिख सकता है। मेरे लेख-संग्रहों की कुछ पुस्तकें मांगीं। मैंने दे दी हैं। आपकी प्रश्नावली मैंने रख ली है। उत्तर में कुछ लिखने का वादा नहीं किया।'

वास्तव में द्विवेदी जी में आत्मविज्ञापन की लालसा कभी नहीं रही। मुख्य बात यही थी। इसी से उन्होंने उन सभी व्यक्तियों को टाल दिया, जिन्होंने उनका जीवन-चरित लिखने के लिए उन्हें घेरना चाहा।

द्विवेदी जी अस्वस्थ रहते हुए भी पढ़ने-लिखने से कभी विरत नहीं होते थे और कौन कहां क्या लिख रहा है, इसकी बराबर खोज-खबर लिए रहते थे। 'माधुरी' में पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी ने एक लेख लिखा था। उसकी ओर जब मैंने द्विवेदी जी का ध्यान आकृष्ट किया तब उन्होंने मेरे पत्र का यह उत्तर दिया :

'फरवरी की 'माधुरी' में मैंने वेंकटेश जी का लेख देख लिया। मैं उनका पहले ही से कृतज्ञ था, अब तो पूछना ही क्या है। लेख में मेरी आलोचना कम, ग्रन्थ की और सभा के कर्णधारों, महाशयों ही की अधिक है। तिवारी जी ने अपनी छात्र-अवस्था में मेरी बहुत मदद की है। उसका जब ख्याल आता है तब मैं उनके उपकार के भार से दब-सा जाता हूं। मिलें तो उनसे कहना मुझ पर झूठा लांछन न लगाया करें। 'कुमारसंभव' में कालिदास ने अनुचित शृंगार वर्णन किया है, इस कारण मैंने 'कालिदास की निरंकुशता' के शुरू ही में 'कवि की खबर' ली है। पर मुझे स्मरण होता है कि वेंकटेश जी ने अपने किसी लेख में मुझ पर यह इलज़ाम लगाया है कि मैंने उस पर कुछ कहा ही नहीं।'

मथुरा के श्री कृष्णदेव गर्ग ने कदाचित् 'माधुरी' में एक लेख छपवाया था जिसमें उन्होंने लिखा था कि द्विवेदीजी अपने लेख सम्पादकों के पास वी० पी० से

भेजा करते थे। यह पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने द्विवेदी जी को लिखा। इसी पत्र में मैंने यह भी लिखा कि आपने यज्ञदत्त को जीवनी लिखने से विरत क्यों कर दिया। इन दोनों बातों का उत्तर उन्होंने अपने 15.2.38 के पत्र में इस प्रकार दिया :

'मैंने यज्ञदत्त को अपने विषय में कुछ लिखने को मना थोड़े ही किया है। मैंने तो मांगने पर अपनी 20-25 पुस्तकें भी दे दी हैं, चित्र भी। वह जो चाहें लिखें। पर अपनी पुरानी बातें मुझे खुद ही भूल गई हैं, कोई अन्य लेखक भला क्या लिखेगा। बहुत आग्रह किए जाने पर कुछ दिन हुए मैंने सोचा थोड़ी-थोड़ी कथा कमल किशोर को लिखाता जाऊं। कथा के अंश विभाग किए तो पचास-साठ अध्याय हुए। उन्हें घटाने-बढ़ाने और संशोधन करने ही में मुझे इतना श्रम हुआ कि सिर में दर्द पैदा हो गया। कई दिनों तक नींद नहीं आई। तब मैंने अपने को इस काम के योग्य ही न समझा। छोड़ दिया।

'भारत धर्म महामंडल' एक मासिक पुस्तक निकालता था। नाम 'महिला' या क्या था। शायद अब भी काशी से निकलता हो। सम्पादक की जगह खैरागढ़ की रानी का नाम था। कई वर्ष हुए, काशी में श्री राय कृष्णदास के बंगले पर मैं बैठा था। और लोग भी थे। शायद रामगोविन्द त्रिवेदी ने मुझ से उसके लिए लेख मांगा। मैंने कहा, रानियों के लिए पच्चीस रुपये से कम में एक लेख न दूंगा और वी०पी०पी० से रुपया वसूल करूंगा। उन्होंने मंजूर किया। लेख भेज कर मैंने रुपया ले लिया। इस एक घटना को छोड़कर, और किसी के साथ मैंने भी ऐसा व्यवहार नहीं किया।

'मेरे मरने के बाद काशी वाले या और कोई मेरे विषय में चाहे जो लिखें, क्या मैं सुनने आऊंगा। मुझे उसकी क्या परवाह ? अब भी जिसका जो जी चाहे लिखे और लोग लिखते ही हैं।'

द्विवेदी जी के पत्र बड़े महत्व के होते थे, भाषा की दृष्टि से ही नहीं, भाव की दृष्टि से भी। वह प्राय: बहुत बड़े पत्र नहीं लिखते थे। थोड़े ही में जो कुछ कहना होता था, लिख देते थे। उनके पत्रों से उनका स्वभाव, उनकी साहित्यिकता, स्पष्टवादिता और सबसे अधिक हृदय की सहृदयता पर पूरा प्रकाश पड़ता है। और यही उनके वह सहज सद्गुण थे जिनकी बदौलत वह हिन्दी के एक युगप्रवर्तक बन सके।